सिनेमा का इश्क़

पतरस बुख़ारी

सिनेमा का इश्क़" शीर्षक तो अद्भुत उत्तेजक है। लेकिन अफ़सोस कि इस विषय से आपकी सारी उम्मीदों पर पानी फिर जाएगा क्योंकि मेरा प्रयोजन तो इस विषय में कुछ दिल के घाव दिखाना है।

इससे आप यह न समझिए कि मुझे फिल्मों से दिलचस्पी नहीं या सिनेमा के संगीत और अन्धकार में जो रोमांच है, मैं उसका क़ायल नहीं। मैं तो सिनेमा के मामले में बचपन ही से बुज़ुर्गों का कोपभाजन रह चुका हूँ, लेकिन आज-कल हमारे मित्र मिर्ज़ा साहब की मेहरबानियों के सौजन्य से सिनेमा मानो मेरी दुखती रग बनकर रह गया है। जहाँ उसका नाम सुन पाता हूँ, कुछ दर्दीली घटनाओं की याद ताज़ा हो जाती है जिससे धीरे-धीरे मेरा स्वभाव ही दोषदर्शी बन गया है।

अव्वल तो खुदा की मेहरबानी से हम कभी सिनेमा समय पर नहीं पहुँच सके। इसमें मेरी सुस्ती का ज़रा भी दोष नहीं। यह सब क़ुसूर हमारे दोस्त मिर्ज़ा साहब का है जो कहने को तो हमारे दोस्त हैं लेकिन खुदा गवाह है कि उनकी दोस्ती से जो नुक़्सान हमें पहुँचे हैं किसी दुश्मन की सामर्थ्य से भी बाहर होंगे।

जब सिनेमा जाने का इरादा हो, हफ़्ता भर पहले से उन्हें कह रखता हूँ कि "क्यों भई मिर्ज़ा, अगले गुरूवार को सिनेमा चलोगे ना!" मेरा आशय यह होता है कि वे पहले से तैयार रहें और अपनी सारी व्यस्तताएँ कुछ इस ढब से व्यवस्थित कर लें कि गुरूवार के दिन उनके काम में कोई बाधा न हो। लेकिन वे जवाब में अजीब नाक़द्री से फ़रमाते हैं:

"अरे भई चलेंगे क्यों नहीं! क्या हम इंसान नहीं? हमें मनोरंजन की ज़रूरत नहीं होती? और फिर कभी हमने तुमसे आज तक ऐसी बे-मुरव्वती भी बरती है कि तुमने चलने को कहा हो और हमने तुम्हारा साथ न दिया हो? "

उनका भाषण सुनकर मैं खिसयाना सा हो जाता हूँ। कुछ देर चुप रहता हूँ और फिर दबी ज़बान से कहता हूँ:

"भई, अब के हो सका तो समय पर पहुँचेंगे। ठीक है ना!"

मेरी यह बात आम तौर पर टाल दी जाती है, क्योंकि इससे उनका ज़मीर कुछ थोड़ा सा जाग जाता है, ख़ैर, मैं भी बहुत ज़ोर नहीं देता। सिर्फ़ उनको बात समझाने के लिए इतना कह देता हूँ:

"क्यों भई, सिनेमा आजकल छह बजे शुरू होता है ना?"

मिर्ज़ा साहब अद्भुत मासूमियत के अंदाज़ में जवाब देते हैं:

"भई हमें यह मालूम नहीं।"

"मेरा ख़याल है छह ही बजे शुरू होता है।"

"अब तुम्हारे ख़याल की तो कोई सनद नहीं।"

"नहीं मुझे यक़ीन है। छह बजे शुरू होता है।"

"तुम्हें यक़ीन है तो मेरा दिमाग़ क्यों मुफ़्त में चाट रहे ह?"

इसके बाद आप ही कहिए मैं क्या बोलूँ?

ख़ैर जनाब, गुरूवार के दिन चार बजे ही उनके मकान को रवाना हो जाता हूँ। इस ख़याल से कि जल्दी-जल्दी उन्हें तैयार करा के समय पर पहुँच जाएँ। दौलतख़ाने (घर) पर पहुँचता हूँ तो आदम न आदम-जा़द। मर्दाने के सब कमरों में घूम जाता हूँ। हर खिड़की में से झाँकता हूँ, हर झिर्री में से आवाज़ें देता हूँ, लेकिन कहीं से रसीद नहीं मिलती। आख़िर तंग आकर उनके कमरे में बैठ जाता हूँ। वहाँ दस-पंद्रह मिनट सीटियाँ बजाता रहता हूँ। दस-पंद्रह मिनट पेन्सिल से ब्लॉटिंग पेपर पर तस्वीरें बनाता रहता हूँ। फिर सिगरेट सुलगा लेता हूँ और बाहर डेवढ़ी में निकलकर इधर-उधर झांकता हूँ। वहाँ बदस्तूर सन्नाटे का आलम देखकर कमरे में वापस आ जाता हूँ और अख़बार पढ़ना शुरू कर देता हूँ। हर कॉलम के बाद मिर्ज़ा साहब को एक आवाज़ दे लेता हूँ। इस उम्मीद पर कि शायद साथ के कमरे में या ऐन ऊपर के कमरे में तशरीफ़ ले आए हों। सो रहे थे तो मुमकिन है जाग उठे हों, या नहा रहे थे तो शायद ग़ुसलख़ाने से बाहर निकल आए हों। लेकिन मेरी आवाज़ मकान के विस्तार में से गूंजकर वापस आ जाती है। आख़िरकार साढ़े पाँच बजे के क़रीब ज़नाने से तशरीफ़ लाते हैं। मैं अपने खौलते हुए ख़ून को क़ाबू में लाकर गंभीरता और शिष्टता को बड़ी मुश्किल से मद्द-ए-नज़र रख कर पूछता हूँ:

"क्यों हज़रत! आप अंदर ही थे?"

"हाँ मैं अंदर ही था।"

"मेरी आवाज़ आपने नहीं सुनी? "

"अच्छा, वह तुम थे? मैं समझा कोई और है?"

आँखें बंद करके सिर को पीछे डाल लेता हूँ और दाँत पीस कर ग़ुस्से को पी जाता हूँ और फिर काँपते हुए होंठों से पूछता हूँ:

"तो अच्छा अब चलेंगे या नहीं?"

"वो कहाँ?"

"अरे ख़ुदा के बन्दे आज सिनेमा नहीं जाना?"

"हाँ सिनेमा। सिनेमा (यह कहकर वे कुर्सी पर बैठ जाते हैं) ठीक है सिनेमा। मैं भी सोच रहा था कि कोई न कोई बात ज़रूर ऐसी है जो मुझे याद नहीं आ रही है। अच्छा हुआ तुमने याद दिला दिया वरना मुझे रात भर उलझन रहती।"

"तो चलो फिर अब चलें।"

"हाँ वह तो चलेंगे ही। मैं सोच रहा था आज ज़रा कपड़े बदल लेते। ख़ुदा जाने धोबी कमबख़्त कपड़े भी लाया है या नहीं। यार इन धोबियों का तो कोई इंतज़ाम करो।"

अगर मानव हत्या एक संगीन जुर्म न होता तो ऐसे मौक़े पर मुझसे ज़रूर हो जाती। लेकिन क्या करूँ अपनी जवानी पर रहम खाता हूँ। बेबस होता हूँ। सिर्फ़ यही कह सकता हूँ कि,

"मिर्ज़ा! भई अल्लाह के वास्ते मुझपर रहम करो। मैं सिनेमा चलने को आया हूँ, धोबियों का इंतज़ाम करने नहीं आया। यार बड़े बदतमीज़ हो, पौने छह बज चुके हैं और तुम ज्यों के त्यों बैठे हो।"
मिर्ज़ा साहब अजीब दयापूर्ण मुस्कान के साथ कुर्सी पर से उठते हैं मानो यह ज़ाहिर करना चाहते हैं कि अच्छा भई तुम्हारी बचकाना इच्छाओं को आख़िर हम पूरी कर ही दें। चुनांचे फिर यह कहकर अन्दर तशरीफ़ ले जाते हैं कि अच्छा कपड़े पहन आऊँ।

मिर्ज़ा साहब के कपड़े पहनने की प्रक्रिया इतनी लम्बी है कि अगर मेरा बस होता तो क़ानूनन उन्हें कभी कपड़े उतारने ही न देता। आध घंटे के बाद वे कपड़े पहने हुए तशरीफ़ लाते हैं। एक पान मुँह में दूसरा हाथ में, मैं भी उठ खड़ा होता हूँ। दरवाज़े तक पहुँचकर मुड़के जो देखता हूँ तो मिर्ज़ा साहब ग़ायब। फिर अन्दर आ जाता हूँ। मिर्ज़ा साहब किसी कोने में खड़े कुछ कुरेद रहे होते हैं।

"अरे भई चलो।"

"चल तो रहा हूँ यार। आख़िर इतनी भी क्या आफ़त है?"

"और यह तुम कर क्या रहे हो?"

"पान के लिए ज़रा तंबाकू ले रहा था।"

पूरे रास्ते मिर्ज़ा साहब चहल-क़दमी फ़रमाते जाते हैं। मैं हर दो तीन लम्हे के बाद अपने आपको उनसे चार पाँच क़दम आगे पाता हूँ। कुछ देर ठहर जाता हूँ। वे साथ आ मिलते हैं तो फिर चलना शुरू कर देता हूँ। फिर आगे निकल जाता हूँ। फिर ठहर जाता हूँ। सारांश यह कि हालाँकि चलता दुगनी तिगुनी रफ़्तार से हूँ लेकिन पहुँचता उनके साथ ही हूँ।

टिकट लेकर अंदर दाख़िल होते हैं तो अंधेरा घुप। बहुतेरा आँखें झपकता हूँ, कुछ सुझाई नहीं देता। उधर से कोई आवाज़ देता है। "यह दरवाज़ा बंद कर दो जी!" या अल्लाह, अब जाऊँ कहाँ? रस्ता, कुर्सी, दीवार, आदमी कुछ भी तो नज़र नहीं आता। एक क़दम बढ़ाता हूँ तो सिर उन बाल्टियों से जा टकराता है जो आग बुझाने के लिए दीवार पर लटकी रहती हैं। थोड़ी देर के बाद अँधेरे में कुछ धुंधले से चिन्ह दिखाई देने लगते हैं। जहाँ ज़रा ज़्यादा घना सा धब्बा दिखाई दे जाए, वहाँ समझता हूँ ख़ाली कुर्सी होगी। कमर झुकाए उस तरफ़ का रुख़ करता हूँ। इसके पावँ को फाँद, उसके टखनों को ठुकरा, महिलाओं के घुटनों से दामन बचाकर आख़िरकार किसी की गोद में जाकर बैठता हूँ। वहाँ से निकाल दिया जाता हूँ और लोगों के धक्कों की मदद से किसी ख़ाली कुर्सी तक जा पहुँचता हूँ। मिर्ज़ा साहब से कहता हूँ, "मैं न बकता था कि जल्दी चलो। ख़ामख़ाह में हमारी बेइज़्ज़ती करवाई न! गधा कहीं का!" इस अमृत वचन के बाद मालूम होता है कि साथ की कुर्सी पर जो महाशय बैठे हैं और जिनको संबोधित कर रहा हूँ वे मिर्ज़ा नहीं कोई और सज्जन हैं।

अब तमाशे की तरफ़ ध्यान देता हूँ और समझने की कोशिश करता हूँ कि फ़िल्म कौन सी है? उसकी कहानी क्या है? और कहाँ तक पहुँच चुकी है? और समझ में सिर्फ़ इतना आता है कि एक मर्द और एक औरत जो पर्दे पर आलिंगित नज़र आते हैं, एक दूसरे को चाहते होंगे। इस इंतज़ार में रहता हूँ कि कुछ लिखा हुआ सामने आए, तो मामला खुले कि इतने में सामने की कुर्सी पर बैठे हुए सज्जन एक दीर्घ व उदार अंगड़ाई लेते हैं

जिसके दौरान में कम से कम दो तीन सौ फ़ीट फ़िल्म गुज़र जाती है। जब अंगड़ाई को लपेट लेते हैं तो फिर सिर खुजाना शुरू कर देते हैं और इस प्रक्रिया के बाद हाथ को सिर से नहीं हटाते बल्कि बाज़ू को वैसे ही मुड़ा रखे रहते हैं। मैं मजबूरन सिर को नीचा करके चायदानी के उस दस्ते के बीच में से अपनी नज़र के लिए रास्ता निकाल लेता हूँ और अपने बैठने के अंदाज़ से बिल्कुल ऐसा मालूम होता हूँ जैसे टिकट ख़रीदे बग़ैर अंदर घुस आया हूँ और चोरों की तरह बैठा हुआ हूँ। थोड़ी देर के बाद उन्हें कुर्सी की गद्दी पर कोई मच्छर या पिस्सू महसूस होता है। चुनांचे वे दाईं से ज़रा ऊँचे होकर बाईं तरफ़ को झुक जाते हैं। मैं मुसीबत का मारा दूसरी तरफ़ झुक जाता हूँ। एक दो क्षण के बाद वही मच्छर दूसरी ओर पलायन कर जाता है। अतः हम दोनों फिर से पैंतरा बदल लेते हैं। ग़रज़ कि यह दिललगी यूं ही जारी रहती है। वे दाएँ तो मैं बाएँ और वे बाएँ तो मैं दाएँ । उनको क्या मालूम कि अंधेरे में क्या खेल खेला जा रहा है। दिल यही चाहता है कि अगली श्रेणी का टिकट लेकर उनके आगे जा बैठूँ और कहूँ कि ले बेटा! देखूँ तो अब तू कैसे फ़िल्म देखता है।

पीछे से मिर्ज़ा साहब की आवाज़ आती है, "यार तुमसे निचला नहीं बैठा जाता। अब जो हमें साथ लाए हो तो फ़िल्म तो देखने दो।"

इसके बाद गुस्से में आकर आँखें बंद कर लेता हूँ और जानबूझकर हत्या, आत्महत्या, ज़हर खाने वग़ैरह मामलात पर विचार करने लगता हूँ। दिल में कहता हूँ कि ऐसी की तैसी इस फ़िल्म की। सौ-सौ क़स्में खाता हूँ कि फिर कभी न आऊँगा और अगर आया भी तो इस कम्बख़्त मिर्ज़ा से ज़िक्र तक न करूँगा। पाँच-छह घंटे पहले से आ जाऊँगा। ऊपर की श्रेणी में सबसे अगली पंक्ति में बैठूंगा। सारा समय अपनी गद्दी पर उछलता रहूँगा! बहुत बड़े तुर्रे वाली पगड़ी पहनकर आऊँगा। अपने ओवर-कोट को दो छड़ियों पर फैलाकर लटका दूँगा! बहरहाल मिर्ज़ा के पास तक नहीं फटकूँगा!

लेकिन इस कम्बख़्त दिल को क्या करूँ? अगले हफ़्ते फिर किसी अच्छे फ़िल्म का विज्ञापन देख पाता हूँ तो सबसे पहले मिर्ज़ा के यहाँ जाता हूँ और गुफ़्तुगु फिर वहीं से शुरू होती है कि "क्यों भई मिर्ज़ा! अगले गुरूवार को सिनेमा चलोगे ना? "

***

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क